

जब मैं अपने आप को एक हिंदू, एक ईसाई, एक बौद्ध कहता हूँ—जो कि पूरी की पूरी परंपरा है, परंपरा का बोझ, ज्ञान का बोझ, संस्कारों का बोझ है—तो मैं कुछ देख नहीं सकता हूँ, मैं स्पष्ट और सही तरीके से अवलोकन नहीं कर सकता हूँ। इस प्रकार के मन से मैं जीवन को मात्र एक ईसाई, एक बौद्ध, एक हिंदू, एक राष्ट्रवादी, एक साम्यवादी, अथवा किसी अन्य वाद के अनुगामी की दृष्टि से ही देख पाता हूँ, तथा उस तरह की दृष्टि मुझे अवलोकन करने से रोकती है। यह सीधी सी बात है।

जब मन एक संस्कारबद्ध इकाई के तौर पर अपना अवलोकन करता है, तो वह एक स्थिति है। किंतु जब मन कहता है, “मैं संस्कारबद्ध हूँ” तब स्थिति अलग होती है। जब मन कहता है “मैं संस्कारबद्ध हूँ” तो मन की उस स्थिति में प्रेक्षक के रूप में एक “मैं” होता है, जो उस संस्कारबद्ध अवस्था को देख रहा है। जब मैं कहता हूँ, “मैं फूल को देख रहा हूँ”, तब वहां द्रष्टा और दृश्य होते हैं, अर्थात् अवलोकन करने वाला, अवलोकन के विषय से भिन्न होता है, इसलिए उनमें दूरी होती है, समय का एक अंतराल होता है, द्वैत होता है, दो विपरीत होते हैं, तथा उन विपरीतों से पार पाना पड़ता है, उस दुई को जोड़ना पड़ता है—वह एक स्थिति है। फिर एक अन्य स्थिति है जब मन स्वयं के संस्कारबद्ध होने का अवलोकन करता है, जिसमें ऐसा नहीं होता कि एक अवलोकन करने वाला है और एक अवलोकन का विषय है। आप अंतर देख रहे हैं?

क्या आपका मन सजग हो सकता है कि यह संस्कारग्रस्त है—अपने संस्कारग्रस्त होने को देखते हुए अवलोकनकर्ता की तरह नहीं—उस स्थिति की अनुभूति अभी कर सकता है, जिसमें अवलोकन करने वाला नहीं है, कल नहीं, अगले क्षण नहीं, अभी; ठीक उस तरह जैसे आप उस स्थिति में अनुभव करते हैं, जब आपको क्रोध आ रहा होता है? इसके लिए अत्यधिक अवधान की, ध्यान देने की आवश्यकता होती है; एकाग्रता की नहीं, क्योंकि जब आप एकाग्रता लाते हैं तो द्वैत होता है। जब आप किसी विषय पर एकाग्रता साधते हैं, तो मन उस ध्येय विषय को ही देखता है, उसी पर केंद्रित होता है; अतएव वहां द्वैत होता है। अवधान में कोई द्वैत नहीं होता, क्योंकि उस स्थिति में मात्र अनुभूति की अवस्था होती है।

जब आप कहते हैं ‘मुझे सारे संस्कारों से मुक्त होना चाहिए, मुझे अनुभव होना चाहिए’, तो अभी भी ‘मैं’ होता है जो कि वह केंद्र है, जिससे आप अवलोकन कर रहे हैं; इसलिए उस हालत में कोई छुटकारा नहीं होता है, क्योंकि वहां हमेशा वह केंद्र, वह निष्कर्ष, वह स्मृति, वह वस्तु होती है, जो देख रही है, जो कह रही है “मुझे यह करना चाहिए, मुझे यह नहीं करना चाहिए”। पर जब आप देख रहे होते हैं, अनुभव कर रहे होते हैं, तो एक द्रष्टारहित अवस्था होती है, एक ऐसी अवस्था, जिसमें कोई केंद्र नहीं है, जिसके द्वारा आप देख रहे हों। वास्तविक पीड़ा की स्थिति में ‘मैं’ नहीं होता है। गहन उल्लास के पल में द्रष्टा नहीं होता है, सब कुछ उल्लासमय होता है, आप उस समग्र आनंद का हिस्सा होते हैं, उससे अलग नहीं होते। मन की यह स्थिति तब घटित होती है, जब मन उस मनःस्थिति के मिथ्यात्व को देख लेता है, जिसमें मन कुछ बनने, कुछ उपलब्ध कर लेने के प्रयत्न में रत है, किसी कालातीत अवस्था की चर्चा में लगा है। कालातीत अवस्था है, किंतु तभी, जब अवलोकनकर्ता नहीं है।

प्रश्नकर्ता : जो मन अपने संस्कारों का अवलोकन कर चुका है, क्या विचार और द्वैत से परे जा सकता है?

कृष्णमूर्ति : आप देख रहे हैं कि किस तरह आप सीधी, एकदम सरल बात को भी देखने से इनकार कर देते हैं। सर, जब आप क्रोध में आते हैं तो उस अवस्था में क्या कोई धारणा होती है, कोई विचार होता है, अवलोकनकर्ता होता है? जब आप आवेगमय होते हैं, तो क्या उसके अतिरिक्त कोई अन्य तथ्य होता है? जब आप नफरत से भरे होते हैं, तो क्या द्रष्टा, धारणा और इस तरह की तमाम चीजें मौजूद रहती हैं? यह सब कुछ बाद में घटित होता है; चाहे एक सेकंड से भी कम अवधि के बाद; परंतु उस अवस्था में तो इस सब में से कुछ भी नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : प्रेम किसी प्रेम-पात्र की ओर निर्दिष्ट होता है। क्या प्रेम में द्वैत है?

कृष्णमूर्ति : सर, प्रेम किसी की ओर निर्दिष्ट नहीं होता। धूप आपकी या मेरी ओर निर्दिष्ट नहीं होती है; वह तो बस होती है।

द्रष्टा और दृश्य, विचार और कर्म, ‘जो है’ और ‘जो होना चाहिए’—इसमें द्वैत है, उस द्वैत में निहित दो विपरीत हैं, तथा उन विपरीतों में मेल बिठाने की लालसा है; इस क्षेत्र में दो का द्वंद्व है। यही समय का समस्त क्षेत्र है। ऐसे मन से आप इस बात की खोज-परख नहीं कर सकते कि समय है अथवा नहीं है। तो इसे कैसे मिटा पाना संभव है? ‘कैसे’ उस अर्थ में नहीं, किसी व्यवस्था, किसी विधि के रूप में नहीं, क्योंकि जिस क्षण कोई विधि प्रयोग में लाते हैं, आप पुनः समय के क्षेत्र में ही होते हैं। समस्या यह है : क्या उससे परे छलांग लगाना संभव है? आप इसे क्रमबद्ध रूप से नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उसमें फिर समय आ जाता है। क्या मन के लिए संस्कारबद्धता को दूर कर पाना संभव है? समय के माध्यम से नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष बोध द्वारा; इसका अर्थ है कि मन को देखना होगा कि मिथ्या क्या है और सत्य क्या है। जब मन कहता है, “मुझे पता लगाना है कि कालातीत क्या है”, तो समय में आबद्ध मन के लिए इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं होता। किंतु यह मन जो समय का ही परिणाम है, क्या किसी प्रयत्न और अनुशासन का सहारा लिए बिना स्वयं को मिटा सकता है? क्या मन इस चीज को बिना किसी कारण के पोछ सकता है? यदि कोई कारण है, तो आप फिर समय में लौट आते हैं।

अतः आप निषेधात्मक रूप से पता लगाना आरंभ करते हैं कि प्रेम क्या है, जैसा कि मैंने पहले स्पष्ट किया है। यह बात तो साफ ही है कि वह प्रेम जिसका कोई प्रयोजन हो, प्रेम नहीं है। जब मैं किसी बड़े आदमी को हार पहनाता हूं, क्योंकि मुझे एक नौकरी चाहिए, क्योंकि उससे मैं कुछ चाहता हूं, तो क्या यह आदर है या वास्तव में यह अनादर ही है? वह व्यक्ति जिसमें किसी के लिए अनादर नहीं है, स्वाभाविक रूप से आदरयुक्त है। ऐसा मन निषेध की अवस्था में है, जो विधिपरक होने का विपरीत नहीं, अपितु ऐसा निषेध है, जो देख लेता है कि मिथ्या क्या है, और उस मिथ्या को मिथ्या के रूप में जानकर अलग हटा देता है—ऐसा मन ही अन्वेषण कर पाता है।

जब मन ने इस तथ्य को पूरी तरह से देख लिया हो कि यह चाहे जो भी कर ले, समय के माध्यम से उस अन्य को कभी नहीं पा सकता, तब वह अन्य विद्यमान होता है। यह ऐसा कुछ है, जो विराट, निस्सीम, अपरिमेय है; यह ऊर्जा है, जिसमें कोई आरंभ नहीं है, कोई अंत नहीं है। आप इस तक नहीं आ सकते, कोई मन इस तक नहीं आ सकता; इसका बस ‘होना’ मात्र है। हमारा सरोकार तो केवल उस मिटाने से होना चाहिए जिसकी हम बात कर रहे थे कि क्या मन को पोछ-मिटाना संभव है, धीरे-धीरे नहीं; वही ऋजुता है, निर्दोषता है। मात्र निर्दोष मन ही इसको, इस असाधारण तत्त्व को देख सकता है, जो एक नदी की तरह है। आप नदी से तो परिचित हैं न? क्या आपने कभी नाव में बैठ कर आगे बहती और पीछे

छूटती नदी को देखा है; कितनी प्यारी होती है यह! इसका आरंभ कहीं होगा, इसका अंत भी होगा। किंतु आरंभ नदी नहीं है, और अंत भी नदी नहीं है। नदी तो वह है जो इनके मध्य में है; यह गांवों से होकर निकलती है, बहुत कुछ इसमें मिलता चला जाता है; यह शहरों से गुज़रती है, जहां हानिकर रसायनों का बहाव इसे प्रदूषित करता रहता है, मल और गंदगी सब इसमें गिरते चले जाते हैं; पर कुछ मील आगे जा कर यह फिर शुद्ध-साफ हो जाती है; इस नदी पर ही सब रहते हैं—भीतर मछली रहती है और किनारे पर वह आदमी जो इसका पानी पीता है। यह नदी है, लेकिन इसके पीछे अगाध जलराशि का अदम्य वेग है, तथा स्वतः शुद्ध होते रहने की प्रक्रिया ही यह नदी है।

निर्दोष मन इसी ऊर्जा की तरह है। इसका न कोई आरंभ है और न कोई अंत। यही ईश्वर है—मंदिर का ईश्वर नहीं। तो न आरंभ है और न अंत है, अतएव न काल है, न कालातीत है। और मन इस तक पहुंच नहीं सकता है। मन, जो समय में ही मापता है, उसे अपने आप को पौछ डालना होगा एवं इसे जाने बिना ही इसमें प्रवेश करना होगा। क्योंकि आप इसे जान नहीं सकते हैं, आप इसे चख नहीं सकते हैं, इसका कोई रंग नहीं है, कोई स्थान नहीं है, कोई आकार नहीं है। वक्ता के लिए तो यह है, आपके लिए नहीं, क्योंकि आपने अभी इस वाले अन्य को छोड़ा नहीं है। मत कहिए कि वैसी अवस्था होती है। यह अवस्था मिथ्या ही होगी, जब इस बारे में वक्तव्य कोई ऐसा व्यक्ति दे रहा हो, जो प्रभावित हो रहा है। आप अगर कुछ कर सकते हैं तो यही कि इससे बाहर कूद पड़ें, और तब आप जान लेंगे—बल्कि आप जानेंगे तक नहीं—आप उस असाधारण अवस्था का ही भाग होंगे।

मुंबई] 8 मार्च 1961